॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है ॥

आत्मधर्म

वर्ष चौथा
अंक छठवां

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

आश्विन
२४७४

धर्मात्मा की स्वरूप-जागृति

सम्यक्दृष्टि जीव के सदा स्वरूपजागृति रहती है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् चाहे जिस परिस्थिति में रहते हुये भी उस जीव को स्वरूप की अनाकुलता का आंशिक वेदन तो हुआ ही करता है, किसी भी परिस्थिति में पर्याय की ओर का वेग ऐसा नहीं होता कि जिससे निराकुल स्वभाव के वेदन को बिल्कुल ढककर मात्र आकुलता का वेदन होता रहे। सम्यग्दृष्टि को प्रतिक्षण निराकुल-स्वभाव और आकुलता के बीच भेदज्ञान रहता है और उसके फलस्वरूप वह प्रतिक्षण निराकुल स्वभाव का आंशिक वेदन करता है। ऐसा चौथे गुणस्थान में रहनेवाले धर्मात्मा का स्वरूप है। बाह्य क्रियाओं पर से स्वरूप-जागृति का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। शरीर से शांत बैठा हो तो ही अनाकुलता कहलाती है और जब लड़ रहा हो, उस समय अनाकुलता किंचित् नहीं हो सकती—ऐसा नहीं है अज्ञानी जीव बाह्य से शांत बैठा दिखाई देता है, तथापि अंतरंग में तो वह विकार में ही लवलीन होने से एकांत आकुलता ही भोगता है; उसे किंचित् स्वरूप-जागृति नहीं है; और ज्ञानी जीव को युद्ध के समय भी अंतरंग में विकारभाव के साथ तन्मयता नहीं रहती, इससे उस समय भी उसे आकुलता रहित आंशिक शांति का वेदन होता है-इतनी स्वरूप-जागृति तो धर्मात्मा के रहती ही है। ऐसी स्वरूप-जागृति ही धर्म है; दूसरा कोई धर्म नहीं।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्ग ४२ दर्शक मासिक पत्र

एक अंक
चार आना

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

परद्रव्य जीव को राग-द्वेष नहीं कराते

[श्री समयसार कलश टीका पृष्ठ २५६-२५७ के आधार पर]

कोई-कोई अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि ''जीव का स्वभाव राग-द्वेषरूप परिणमित होनेवाला नहीं है, किन्तु परद्रव्य-ज्ञानावर्णादि कर्म, शरीर तथा संसार-भोग की सामग्रियाँ जीव को जबरदस्ती राग-द्वेषरूप परिणमन कराती हैं।'' यह बात मिथ्या है। परद्रव्य जीव को राग-द्वेषरूप परिणमित नहीं करते, जीव स्वयं ही राग-द्वेष आदि भावरूप परिणमित होता है। जीव की विभावपरिणाम-शक्ति जीव में है, उसके कारण (अर्थात् अपनी विभावशक्ति की वर्तमान योग्यता से) जीव स्वयं ही मिथ्यात्व और राग-द्वेषरूप परिणमित होता है, परवस्तुओं का उसमें कोई भी अवलंबन नहीं है, यह बात आचार्यदेव कलश में कहते हैं—

(शालिनी)

रागद्वेषोत्पादकं तत्वदृष्ट्या, नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किंचनापि,
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति व्यक्तात्यंतं स्वस्वभावेन यस्मात् ॥२१९॥

अर्थ-तत्वदृष्टि से देखने पर, राग-द्वेष का उत्पादक अन्यद्रव्य किंचित्मात्र दिखाई नहीं देता। कारण कि सर्वद्रव्यों की उत्पत्ति अपने स्वभाव से ही होती हुई अंतरंग में उत्पन्न प्रगट-प्रकाशित होती है।

भावार्थ-यदि द्रव्य के स्वरूप को यथार्थदृष्टि से देखा जाये तो अष्टकर्म, शरीर, मन, वचन अथवा बाह्य भोग-सामग्री इत्यादि जितने परद्रव्य हैं, वे कोई भी जीव में अशुद्ध चेतनारूप राग-द्वेष परिणामों की उत्पत्ति करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि चेतन या अचेतन समस्त द्रव्यों की परिणति की उत्पत्ति (अखंड धारारूप परिणाम) स्वयं अपने भाव से स्वयं, अपने स्वरूप से ही होता है, यह स्पष्ट है।

यहाँ पर यह स्पष्ट किया गया है कि राग-द्वेषादि परिणाम जीव के ही विभाव-भाव हैं, क्योंकि जीव में एक प्रकार की वैभाविकशक्ति है, उसकी योग्यता से जीव का ज्ञानभाव स्वयं विभावरूप हो जाता है, किन्तु कोई भी अन्य द्रव्य, जीव में जबरदस्ती राग-द्वेष उत्पन्न नहीं कर देता। जैसे-जिस पानी में उष्णतारूप होने की योग्यता होती है, वही अग्नि के संयोग से उष्ण हो जाता है, इसी प्रकार जिस जीव में राग-द्वेष-मोहरूप परिणमित होने की योग्यता है, वही उसरूप परिणमित होता है, कर्मों का उदय उसे राग-द्वेष नहीं कराता।

हे भव्य! इतना तो अवश्य करना

[दर्शन प्राभृत के प्रवचन में से]

आचार्यदेव सम्यग्दर्शन के ऊपर मुख्य जोर देकर कहते हैं कि हे भाई! तुझसे अधिक न हो तो भी थोड़े में थोड़ा सम्यग्दर्शन तो अवश्य रखना। यदि तू इससे भ्रष्ट हो गया तो किसी भी प्रकार तेरा कल्याण नहीं होगा। चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन में अल्प-पुरुषार्थ है, इसलिये सम्यग्दर्शन अवश्य करना। सम्यग्दर्शन का ऐसा स्वभाव है कि जो जीव इसे धारण करता है, वह जीव क्रमशः शुद्धता की वृद्धि करके अल्पकाल में ही मुक्तदशा प्राप्त कर लेता है। वह जीव को अधिक समय तक संसार में नहीं रहने देता। आत्मकल्याण का मूल कारण सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता पूर्ण मोक्षमार्ग है। हे भाई! यदि तुझसे सम्यग्दर्शनपूर्वक राग को छोड़कर चारित्रदशा प्रगट हो सके तो वह अच्छा है, और यही करने योग्य है। किन्तु यदि तुझसे चारित्रदशा प्रगट न हो सके तो कम से कम आत्मस्वभाव की यथार्थ श्रद्धा तो अवश्य करना। इस श्रद्धा मात्र से भी अवश्य तेरा कल्याण होगा।

मात्र सम्यग्दर्शन से भी तेरा आराधकत्व चलता रहेगा। वीतराग देव के कहे हुए व्यवहार का विकल्प भी हो तो उसे भी बंधन मानना। पर्याय में राग होता हो, तथापि ऐसी प्रतीति रखना कि राग मेरा स्वभाव नहीं है, और इस राग के द्वारा मुझे धर्म नहीं है। ऐसे राग-रहित स्वभाव की श्रद्धा सहित जो राग-रहित चारित्रदशा हो सके तो वह प्रगट करके स्वरूप में स्थिर हो जाना, किन्तु यदि ऐसा न हो सके और राग रह जाये तो उस राग को मोक्ष का हेतु नहीं मानना, राग-रहित अपने चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा रखना।

कोई ऐसा माने कि पर्याय में राग हो, तबतक रागरहित स्वभाव की श्रद्धा कैसे हो सकती है? पहिले राग दूर हो जाय, फिर राग-रहित स्वभाव की श्रद्धा हो। इसप्रकार जो जीव, राग को ही अपना स्वरूप मानकर सम्यक् श्रद्धा भी नहीं करता, उससे आचार्य भगवान कहते हैं कि हे जीव! तू पर्यायदृष्टि के राग को अपना स्वरूप मान रहा है। किन्तु पर्याय में राग होते हुए भी तू पर्यायदृष्टि छोड़कर स्वभावदृष्टि से देख तो तुझे राग-रहित अपने स्वरूप का अनुभव हो। जिस समय क्षणिक पर्याय में राग है, उसी समय ही रागरहित त्रिकाली स्वभाव है; इसलिये पर्यायदृष्टि छोड़कर तू अपने

राग-रहित स्वभाव की ही प्रतीति रखना। इस प्रतीति के बल से अल्पकाल में राग दूर हो जावेगा, किन्तु इस प्रतीति के बिना कभी भी राग नहीं टल सकेगा।

''पहले राग दूर हो जाय तो मैं रागरहित स्वभाव की श्रद्धा करूँ'' ऐसा नहीं है। आचार्यदेव कहते हैं कि पहले तू रागरहित स्वभाव की श्रद्धा कर तो उस स्वभाव की एकाग्रता द्वारा राग दूर हो। ''राग दूर हो तो श्रद्धा करूँ'' अर्थात् ''पर्याय सुधरे तो द्रव्य मानूँ'' ऐसी जिसकी मान्यता है, वह जीव पर्यायदृष्टि है-पर्यायमूढ़ है, उसके स्वभावदृष्टि नहीं है, और वह मोक्षमार्ग के क्रम को नहीं जानता क्योंकि सम्यक्श्रद्धा के पहले सम्यक्चारित्र की इच्छा रखता है। ''रागरहित स्वभाव की प्रतीति करूँ तो राग दूर हो'' ऐसे अभिप्राय में द्रव्यदृष्टि है और द्रव्यदृष्टि के बल से पर्याय में निर्मलता प्रगट होती है। मेरा स्वभाव रागरहित है—ऐसे वीतराग अभिप्रायसहित (स्वभाव के लक्ष्य से अर्थात् द्रव्यदृष्टि से) जो परिणमन हुआ, उसमें प्रतिक्षण राग दूर होता है और अल्पकाल में ही उसका नाश होता है, यह सम्यग्दर्शन की महिमा है। किन्तु जो पर्यायदृष्टि ही रखकर अपने को रागयुक्त मान ले तो राग किसप्रकार दूर हो। ''मैं रागी हूँ''—ऐसे रागीपन के अभिप्राय से (विकार के लक्ष्य से, पर्यायदृष्टि से) जो परिणमन होता है, उसमें राग की उत्पत्ति हुआ करती है किन्तु राग दूर नहीं होता। इससे पर्याय में राग होने पर भी उसी समय पर्यायदृष्टि को छोड़कर स्वभावदृष्टि से रागरहित चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा करना आचार्य भगवान बतलाते हैं और यही मोक्षमार्ग का क्रम है।

आत्मार्थी का यह प्रथम कर्तव्य है कि यदि पर्याय में राग दूर न हो सके तो भी ''मेरा स्वरूप रागरहित है—ऐसी श्रद्धा अवश्य करना चाहिये।'' आचार्यदेव कहते हैं कि यदि तुझसे चारित्र नहीं हो सकता तो श्रद्धा में टालमटोल मत करना। अपने स्वभाव को अन्यथा नहीं मानना।

हे जीव! तू अपने स्वभाव को स्वीकार कर, स्वभाव जैसा है, उसे वैसा ही मान। जिसने पूर्ण स्वभाव को स्वीकार करके सम्यग्दर्शन को टिका रखा है, वह जीव अल्पकाल में ही स्वभाव के बल से ही स्थिरता प्रगट करके मुक्त हो जायेगा।

मुख्यतः पंचमकाल के जीवों से आचार्यदेव कहते हैं कि-इस दग्ध पंचमकाल में तुम शक्ति रहित हो किन्तु तब भी केवल शुद्धात्मस्वरूप का श्रद्धान तो अवश्य करना। इस पंचमकाल में साक्षात् मुक्ति नहीं है, किन्तु भवभय को नाश करनेवाला जो अपना स्वभाव है, उसकी श्रद्धा करना, यह निर्मल बुद्धिमान जीवों का कर्तव्य है। अपने भवरहित स्वभाव की श्रद्धा से अल्पकाल में ही

भावरहित हो जायगा। इसलिये हे भाई! पहले तू किसी भी प्रयत्न से परम पुरुषार्थ के द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट कर।

प्रश्न :- आप सम्यग्दर्शन का अपार माहात्म्य बतालते हैं, यह तो ठीक है, यही करने योग्य है, किन्तु यदि इसका स्वरूप समझ में न आये तो क्या करना चाहिये ?

उत्तर :- सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त आत्मकल्याण का दूसरा कोई मार्ग (उपाय) तीनकाल-तीनलोक में नहीं है; इसलिये जबतक सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझ में ना आये, तबतक उसका ही अभ्यास निरंतर करते रहना चाहिये। आत्मस्वभाव की यथार्थ समझ का ही प्रयत्न करते रहना चाहिये। यही सीधा-सच्चा उपाय है। यदि तुझे आत्मस्वभाव की यथार्थ रुचि है, और सम्यग्दर्शन की अपार महिमा को समझकर उसकी अकुलाहट हुई है तो तेरा समझने का प्रयत्न व्यर्थ नहीं जायगा। स्वभाव की रुचिपूर्वक जो जीव, सत् के समझने का अभ्यास करता है, उस जीव के प्रतिक्षण मिथ्यात्वभाव की मंदता होती है। एक क्षण भी समझने का प्रयत्न निष्फल नहीं जाता, किन्तु प्रतिक्षण उसका कार्य होता ही रहता है। स्वभाव की प्रीति से जो जीव समझना चाहता है, उस जीव के ऐसी निर्जरा प्रारम्भ होती है, जो कभी अनन्तकाल में भी नहीं हुई थी। श्रीपद्मनंदि आचार्य ने कहा है कि -इस चैतन्यस्वरूप आत्मा की बात भी जिस जीव ने प्रसन्नचित्त से सुनी है, वह मुक्ति के योग्य है।

इसलिये हे भव्य! इतना तो अवश्य करना। ●

श्री पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला,

मारोठ (मारवाड़) की ओर से

समयसार प्रवचन के ग्राहकों को सूचना

समयसार प्रथम भाग छपकर तैयार हो गया है। प्रस्तावना आदि छप रही है। बंधाई आदि में करीब एक माह का समय लग जावेगा, अतः पाठकों को एक माह की प्रतीक्षा और करना पड़ेगी। धैर्य रखें। शीघ्र ही भेजने का प्रबन्ध कर रहे हैं।

कष्ट के लिये क्षमा

निवेदक —

मंत्री

शान्ति का उपाय

[परमात्मप्रकाश के व्याख्यान से]

यह जीव, शरीर से भिन्न है। शरीर तो मिट्टी है, जड़ है, और जीव उससे भिन्न है। जीव अर्थात् आत्मा, वह ज्ञाता है। २५ वर्ष पहले की बात भी वह जानता है, शरीर नहीं जानता किन्तु जीव जानता है।

जीव का सुख कहीं बाह्य में नहीं है। इस शरीर में, पैसे में, स्त्री में, कहीं भी सुख नहीं है किन्तु ममत्व को दूर करे तो उसको आत्मा में ही सुख दिखलाई दे। आत्मा स्वयं ममत्व करता है, वह ममत्व पाप है, और उसे लेकर ही जीव दुःखी है। वह ममत्व और पाप दूर हो तो जीव को शांति और सुख हो। जैसे जीव में ममत्व करने की शक्ति है, वैसे ही उसे दूर करने की शक्ति भी जीव में है। यदि ममत्व दूर करे तो सुख हो।

पहले अधिक ममत्व करता हो, पश्चात् ममत्व को कम करे तो वहाँ ममत्व कम होने पर ज्ञान कम नहीं हो जाता। इसलिये ममत्व अपना कर्तव्य नहीं है किन्तु ज्ञान ही आत्मा का स्वरूप है। वृद्धावस्था होने पर लड़का उससे कहता है कि–अब तुम निवृत्त हो अर्थात् ममत्व कम करो! इससे लड़के ने भी ऐसा माना है कि ममत्व घटाना चाहिये। वृद्धावस्था में या युवावस्था में चाहे जब ममत्व कम करने की शक्ति है। ममत्व कम करने से जीव को अपना आनंद प्रगट होता है। ममत्व को लेकर ही जीव को दुःख होता है और ममत्व दूर करे तो सुख हो। यह आत्मा, शरीर से भिन्न है। पैसे में, स्त्री में या शरीर इत्यादि में उसका सुख नहीं है किन्तु अपने में ही सुख है—ऐसा समझे तो ममत्व दूर हो।

यह आत्मा तो स्थाई है, आत्मा नवीन नहीं होता किन्तु जो पूर्व भव में था, वही इस समय है। आत्मा का नाश नहीं होता अथवा नवीन नहीं होता। यह शरीर नवीन होता है और नाश को प्राप्त होता है। किन्तु जीव उससे भिन्न है–यदि ऐसा जान ले, शरीरादि के ऊपर ममत्व न करे तो वह सुखी हो। चाहे जिस समय ममत्व कम कर सकता है, जीव में ऐसी शक्ति विद्यमान है। बीमार हो, पलंग पर पड़ा हो, तथापि ममत्व कम कर सकता है। यदि ममत्व कम न करे तो शांति नहीं हो सकती; इसलिये आत्मा और शरीर भिन्न हैं—ऐसा समझकर ममत्व को कम करे, तब ही जीव को शांति होती है।

जैसे दियासलाई में अग्नि प्रगट होने का स्वभाव है, यदि उसे घिसा जाय तो अग्नि प्रगट होती है। दियासलाई में पेट भरने की-भूख मिटाने की शक्ति नहीं है किन्तु अग्नि प्रगट करने की शक्ति है। इसीप्रकार जीव में ज्ञान तथा शांति करने की शक्ति है, ज्ञान और शांति जीव का स्वभाव है। यदि उस स्वभाव को पहिचाने तो उसको शांति हो और ममत्व दूर हो जाय। जैसे मिश्री में कडुआ स्वभाव नहीं है, उसीप्रकार जीव में ममत्व करने का स्वभाव नहीं है किन्तु मोह को टालकर शांति करना ही उसका स्वभाव है। इसलिये ऐसे अपने आत्मा को जाने और ममत्व दूर करे तो शांति हो और सुख प्रगटे। इसमें किसी दूसरे के आश्रय की आवश्यकता नहीं है। ●●●

वर्तमान में मोक्ष-प्रतीति

क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हुआ कि ''मेरी अवस्था मुझमें से ही क्रमबद्ध प्रगट होती है'' अर्थात् उसे अपने द्रव्य की ओर ही देखना रहा-अर्थात् वस्तुदृष्टि हो गई। समस्त षड्द्रव्यों की पर्यायें भी उनसे ही क्रमबद्ध होती हैं। मैं उनका कर्ता नहीं हूँ, और वह मेरी पर्याय का कर्ता नहीं हैं, बस! ऐसी क्रमबद्ध की श्रद्धा होते ही सर्व परद्रव्यों के प्रति उदासीन वृत्ति / वीतरागभाव आ गया। पर की ओर लक्ष्य करना शेष नहीं रहा, और स्वलक्ष्य से द्रव्य में से जो पर्याय प्रगट होती है, वह तो निर्मल ही है-अर्थात् अल्प काल में ही उसकी मुक्ति होने वाली है। द्रव्यदृष्टिवालों को मुक्ति की आकुलता नहीं होती, क्योंकि द्रव्य तो सदा मुक्तिस्वरूप ही है, उसमें बंधन और मुक्ति-ऐसे भेद ही नहीं हैं। एकगुण में अनंतानंत निर्मल पर्यायों की शक्ति है, और ऐसे ही अनंतगुणों से ही वस्तु परिपूर्ण है। उस वस्तु की दृष्टि होने पर, वस्तु में से ही क्रमबद्ध मोक्षदशा आती है। अर्थात् वस्तुदृष्टि ही मोक्ष का मूल कारण है। ''क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में वस्तुदृष्टि आती है।'' ''वस्तुदृष्टि हुई'' ऐसा कहो कि क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय हो गया, ऐसा कहो—उन दोनों का एक ही भाव है।

जहाँ द्रव्य की प्रतीति हुई है वहाँ ''मोक्षपर्याय कब प्रगट होगी'' ऐसी आकुलता नहीं है, पर्याय का लक्ष्य ही नहीं है। जहाँ द्रव्य की प्रतीति नहीं है, वहाँ मोक्ष पर्याय का यथार्थरूप से आदर नहीं हो सकता।

द्रव्य के लक्ष्य से मोक्षपर्याय प्रगट होती है, द्रव्य में से मोक्षपर्याय क्रमबद्ध आती है। जिसे द्रव्य की श्रद्धा है, उसे "मोक्षपर्याय कब प्रगट होगी"—ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि मोक्षपर्याय प्रतिसमय द्रव्य में ही भरी है, उसे उसी में से क्रमबद्ध मोक्षदशा प्रगट होना है। उसे द्रव्य की श्रद्धा है, इसलिये मोक्षपर्याय कब प्रगट होगी—ऐसी आकुलता क्रमबद्धपर्याय के यथार्थ निर्णय करनेवाले के नहीं होती। वर्तमान में तो मोक्षपर्याय प्रगट है ही नहीं, इसलिये उसका विचार करने से राग आता है किन्तु पूर्ण द्रव्य के लक्ष्य से राग नाश होकर मोक्ष होता है।

रुचि में कालभेद नहीं हो सकता

रुचि, द्रव्य और पर्याय में भेद नहीं करती। जिसे द्रव्य की यथार्थ रुचि है, वह वर्तमान द्रव्य की पर्याय में ही मोक्षपर्याय देखता है। स्थिरता में कालभेद पड़ता है किन्तु रुचि में द्रव्य और पर्याय के बीच में कालभेद नहीं पड़ता। द्रव्य की प्रतीति में द्रव्य की तीनोंकाल की पर्यायों की स्वीकृति आ गई, और तीनों काल की पर्यायों में मोक्षपर्याय भी आ गई। इसलिये द्रव्य की प्रतीति करनेवालों को मोक्ष की शंका नहीं होती।

'सर्वज्ञ ने मेरा मोक्ष कब देखा होगा' जिसके ऐसा विकल्प उठा है, तो उसने विकल्प में वर्तमान में सर्वज्ञ का निश्चय कर लिया और सर्वज्ञ की सामर्थ्य का भी अपने ज्ञान में निर्णय कर लिया है, इसमें विद्यमान अनंत वीर्य कार्य करता है। जिसे उस वर्तमान वीर्य की श्रद्धा नहीं है, उसे "मेरा मोक्ष प्रगट करनेवाला पुरुषार्थ भविष्य में इतना काम करेगा"—ऐसी श्रद्धा कहाँ से आयेगी ? जिस ज्ञान में सर्वज्ञ का निर्णय किया है, यदि उस ज्ञान के अनंत वीर्य की श्रद्धा नहीं की तो उसे भविष्य में मोक्ष के अनंत वीर्य की श्रद्धा नहीं हो सकती। जिसने यथार्थरूप से सर्वज्ञ की श्रद्धा की है, उसे अधिक भव नहीं हो सकते। सर्वज्ञ की सामर्थ्य का निर्णय करनेवालों और क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करनेवालों की एक-दो भव में ही मुक्ति होती है। क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय करनेवाले के विस्तृत संसार नहीं हो सकता। श्रद्धा में परिपूर्ण द्रव्य की स्वीकृति करने में ही वर्तमान अनंत पुरुषार्थ है और उस पुरुषार्थ में ही मोक्षदशा की प्रतीति आ जाती है।

स्वतंत्रता और सुख

[ता. १५ अगस्त के प्रातः काल कहे गये पूज्य श्री कानजी स्वामी के मांगलिक वचन]

हे जीवो! यदि तुम अपनी स्वतंत्रता और सुख चाहते हो तो ऐसी मान्यता छोड़ो कि पर के आश्रय से मेरा सुख है। परवस्तु के ऊपर मेरा अधिकार है, यह मान्यता भी छोड़ो। मेरे सुख का किसी पर के साथ सम्बन्ध नहीं है, मैं समस्त पदार्थों से रहित हूँ, मेरे ज्ञान साम्राज्य में मुझे विघ्न करनेवाला कोई नहीं और मैं अपने ज्ञान साम्राज्य के द्वारा समस्त पदार्थों को जैसा जानता हूँ, उसी प्रकार उसमें होते हैं—ऐसी यथार्थ प्रतीतिपूर्वक पराश्रयभाव को छोड़कर, स्वाश्रयभाव में स्थिर होना, यही स्वतंत्रता है और यही सुख है।

स्वतंत्रता उसे कहते हैं जिसमें अपने सुख के लिये किसी दूसरे के आश्रय की आवश्यकता न पड़े, किन्तु स्वयं ही स्वाधीनरूप से सुखी हो; और अपना स्वाधीन सुख ऐसा हो कि जिसमें कोई भी संयोग हानि न पहुँचा सके। ऐसे स्वाधीन सुखरूप तो आत्मस्वभाव है। वह स्वाधीनता कौन दे सकता है और परतंत्रता की बेड़ियाँ कौन तोड़ सकता है?

मेरा सुख मेरी आत्मा में है; किसी भी संयोगों के आधीन मेरा सुख नहीं है, किन्तु मेरा ज्ञान ही स्वयं सुख-शान्तिरूप है-ऐसे अपने ज्ञानस्वभाव की जिन्हें प्रतीति नहीं है, वैसे अज्ञानी जीव "मेरा सुख परवस्तु के आधार से है, और संयोग अनुकूल हों तो ही मेरा सुख स्थिर रह सकता है" ऐसा मानते हैं। ऐसे जीव सदा पराश्रयरूप संयोगों में से सुख की इच्छा करते हैं-अर्थात् वे संयोगों के दास हैं। वे स्वाधीन आत्मस्वभाव को न जानने से कभी भी स्वतंत्रता प्राप्त नहीं करते। अपने सुख को पराश्रित मानना परतंत्रता है, और उसका ही अनंत दुःख है। अज्ञानता के कारण जीव यह परतंत्रता अनादि से करता आया है।

इस पराधीनता का बंधन कौन छुड़ाता है?

यह पराधीनता जीव ने स्वयं अपने स्वभाव को भूलकर विपरीत मान्यता से स्वीकार की है, इसलिये स्वयं ही स्वभाव की प्रतीति से वह परंतत्रता के बंधन तोड़ सकता है, किन्तु कोई दूसरा उसे पराधीनता के बंधन से मुक्त करनेवाला नहीं है।

ज्ञानियों ने अपना स्वभाव जान लिया है। आत्मा का स्वभाव संपूर्ण स्वतंत्र, अपने से परिपूर्ण सुखस्वरूप है। उसे किसी भी संयोग की अपेक्षा नहीं है-ज्ञानी ऐसा जानने से कभी भी

अपने सुख के लिये पराश्रय की आवश्यकता नहीं मानते। इसलिये ऐसे ही ज्ञानी जीव स्वाश्रयस्वभाव की एकाग्रतारूप अहिंसा के बल से पराश्रयरूप परतंत्रता के बंधन को सर्वथा तोड़कर संपूर्ण स्वतंत्रदशा में सिद्ध भगवान के रूप विराजमान रहते हैं।

ऐसी परम आत्मस्वतंत्रता जयवंत रहो!

—ऐसी परम स्वतंत्रता को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय भेदज्ञान है, इसलिये आत्मा की सच्ची स्वतंत्रता और सुख के इच्छुक समस्त जीवों को इस भेदज्ञान का अभ्यास करना कर्तव्य है। जिन्हें भेदज्ञान नहीं है, वही परतंत्र हैं; जिन्हें भेदज्ञान है, उनके ही स्वतंत्रता का प्रारम्भ हुआ है, और वे पूर्ण स्वतंत्रता की साधना करके सिद्धदशा प्रगट करते हैं।

वही स्वतंत्रता और सुख है। ✤

निवेदन

१— आत्मधर्म पत्र की सम्पूर्ण व्यवस्था अब अनेकान्त मुद्रणालय के द्वारा हो रही है, अतएव ग्राहक महानुभावों से निवेदन है कि पत्र-व्यवहार तथा मनिआर्डर आदि अनेकान्त मुद्रणालय मोटा आंकड़िया (काठियावाड़) के पते पर भेजें।

२— कई ग्राहक महानुभाव पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक नंबर नहीं लिखते, जिससे उन्हें यथासमय पत्रोत्तर प्राप्त नहीं हो पाता एवं व्यवस्था में भी अड़चन पड़ती है। इसलिये निवेदन है कि पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक नम्बर अवश्य लिखें।

निश्चयश्रद्धा-ज्ञान कैसे प्रगट हो ?

(परमात्मप्रकाश गाथा ५३ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन)

अनेक जीव, दयारूप परिणामोंवाले होते हैं, तथापि वे शास्त्रों का सच्चा अर्थ नहीं समझ सकते; इसलिये दयारूप परिणाम, शास्त्रों के समझने में कारण नहीं हैं। इसीप्रकार मौन धारण करें, सत्य बोलें और ब्रह्मचर्य आदि के परिणाम करें, फिर भी शास्त्र का आशय नहीं समझ सकते; अर्थात् यहाँ ऐसा बताया है कि आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वभाव का आश्रय ही सम्यग्ज्ञान का उपाय है; कोई भी मंद-कषायरूप परिणाम, सम्यग्ज्ञान का उपाय नहीं करते हैं।

इस समय शुभपरिणाम करने से पश्चात् सम्यग्ज्ञान का उपाय हो जायेगा, यह मान्यता मिथ्या है। अनंतबार शुभपरिणाम करके स्वर्ग में जानेवाले जीव भी शास्त्रों के तात्पर्य को नहीं समझ पाये। तथा वर्तमान में भी ऐसे अनेक जीव दिखाई देते हैं जोकि वर्षों से शुभपरिणाम, मंदकषाय तथा व्रत-प्रतिमा आदि करने पर शास्त्र के सच्चे अर्थ को नहीं जानते, अर्थात् उनके ज्ञान की व्यवहारशुद्धि भी नहीं है, अभी ज्ञान की व्यवहारशुद्धि के बिना जो चारित्र की व्यवहारशुद्धि करना चाहते हैं, वे जीव, ज्ञान के पुरुषार्थ को नहीं समझे।

ऐसे ही दयादि के भावरूप मंद-कषाय से भी व्यवहारशुद्धि नहीं होती और ज्ञान की व्यवहारशुद्धि से आत्मज्ञान नहीं होता। आत्मा के आश्रय से ही सम्यग्ज्ञान होता है, यही धर्म है। इस धर्म की प्रतीति के बिना तथा वास्तविक व्यवहारज्ञान न होने से-शास्त्र के सच्चे अर्थ को न समझ ले, तबतक जीव के सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। दयादिरूप मंदकषाय के परिणामों से व्यवहारज्ञान की भी शुद्धि नहीं होती।

बाह्य-क्रियाओं पर परिणामों का आधार नहीं है। कोई द्रव्यलिंगी मुनिओं के साथ रहता हो और किसी के बाह्यक्रिया बराबर होती हो, तथापि एक नवमें ग्रैवेयक में जाता है और दूसरा पहले स्वर्ग में, क्योंकि परिणामों में कषाय की मंदता, बाह्यक्रिया से नहीं होती।

जो शुभपरिणाम अंतरंग में करता है, उससे व्यवहारज्ञान की शुद्धि नहीं होती किन्तु वह यथार्थ ज्ञान के अभ्यास से ही होती है।

ज्ञान की व्यवहारशुद्धि से भी आत्मस्वभाव का सम्यग्ज्ञान नहीं होता, किन्तु अपने

परमात्मभाव का रागरहितरूप से अनुभव करे, तभी सम्यक्ज्ञान होता है। सम्यक्ज्ञान में पराश्रय नहीं; स्वभाव का ही आश्रय है।

वस्तुस्वभाव ही स्वतंत्र और परिपूर्ण है, उसे किसी के आश्रय की आवश्यकता नहीं है। स्वभाव के आश्रय से ही सम्यक्दर्शन होता है। नवमें ग्रैवेयक में जानेवाले जीव के देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ श्रद्धा, ग्यारह अंग का ज्ञान और पंचमहाव्रतों का पालन, ऐसे परिणाम होने पर भी चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा करने के लिये वे परिणाम काम में नहीं आते। स्वभाव के लक्षपूर्वक मंदकषाय हो तो वहाँ मन्दकषाय की मुख्यता नहीं रही, किन्तु शुद्धस्वभाव के लक्ष की ही मुख्यता है। स्वभाव की श्रद्धा को व्यवहाररत्नत्रय की सहायता नहीं होती।

कषाय की मंदतारूप आचरण के द्वारा श्रद्धा-ज्ञान का व्यवहार नहीं सुधरता। शास्त्र में जड़-चैतन्य की स्वाधीनता, उपादान-निमित्त की स्वतंत्रता बतलाई है; जो यह नहीं समझता, उसके ज्ञान का व्यवहार भी नहीं सुधरा है। चैतन्यस्वभाव का ज्ञान तो व्यवहारज्ञान से भी पार है। आत्मज्ञान, सो परमार्थज्ञान है, और शास्त्र के आशय का यथार्थ ज्ञान, सो ज्ञान का व्यवहार है। जिसके ज्ञान का व्यवहार भी ठीक नहीं है, उसके परमार्थज्ञान कैसा ?

बाह्यक्रिया तो ज्ञान का कारण नहीं है, किन्तु जो अंतरंग में व्यवहार आचरण के मन्दकषायरूप परिणाम होते हैं, वे परिणाम भी शास्त्रज्ञान के कारण नहीं होते और स्वभाव का ज्ञान तो शास्त्रज्ञान से भी पार है। शास्त्रज्ञान के राग के अवलम्बन को दूर करके जब परमात्मस्वभाव का अनुभव करता है, उस समय सम्यक्श्रद्धा होती है। जिस समय राग का नाश करके परमात्मस्वभाव को जाना, उस समय उस जीव को परमात्मा ही उपादेय है। आत्मा तो त्रिकाल परमात्मा ही है, किन्तु जब रागरहित होकर उसकी प्रतीति करता है, तब वह उपादेयरूप होता है, वह राग के द्वारा नहीं जाना जाता।

कितनी भक्ति से आत्मा समझ में आता है ? भक्ति से आत्मा नहीं समझा जा सकता। कितने उपवासों से आत्मा समझ में आयेगा ? उपवास के शुभपरिणामों से आत्मा समझ में नहीं आता। कोई भी शुभपरिणाम, सम्यक्ज्ञान की रीति नहीं है, किन्तु जब स्वभाव के लक्ष से यथार्थ शास्त्र का अर्थ समझता है, तब ज्ञान का व्यवहार सुधरता है। पहले ज्ञान के आचरण सुधरे बिना चारित्र के आचरण नहीं सुधरते। यदि सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन की रीति को ही नहीं जाने तो वह कहाँ से होगा ? अनेक जीव, आचरण के परिणामों को सुधारकर उसे ज्ञान का उपाय मानते हैं, वे जीव

सम्यक्ज्ञान के उपाय को नहीं समझे हैं। व्यवहार का निषेध करके परमार्थ स्वभाव को समझे बिना व्यवहार का भी सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता।

कषाय की मंदता के द्वारा जो मिथ्यात्व की मंदता होती है, उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन नहीं कहते, किन्तु सच्ची समझ की ओर के प्रयत्न से ही व्यवहार सम्यक्त्व होता है किन्तु यह व्यवहार सम्यक्त्व भी निश्चय सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है। यदि देव-गुरु-शास्त्र के लक्ष में ही रुक जाये तो सम्यग्दर्शन नहीं होगा। जिस समय चिन्मात्रस्वभाव के आश्रय से श्रद्धा-ज्ञान करता है, उस समय ही सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होता है। चैतन्य की श्रद्धा चैतन्य के द्वारा ही होती है; राग के द्वारा या पर के द्वारा नहीं होती।

बाह्य क्रियाओं के आश्रय से कषाय की मन्दता नहीं होती और कषाय की मन्दता से पर्याय की स्वतंत्रता की श्रद्धा नहीं होती।

दयादि के परिणामों का पुरुषार्थ तो करना चाहिये, किन्तु वर्तमान पर्याय स्वतंत्र है—ऐसी व्यवहारश्रद्धा का उपाय उससे भिन्न प्रकार का है। परजीव के कारण या परद्रव्यों के कारण मेरे दयादिरूप परिणाम हुए हैं, अथवा कर्म के कारण रागादि हुए-ऐसी मान्यतापूर्वक कषाय की मन्दता करे, किन्तु उस मंदकषाय में व्यवहारश्रद्धा करने की शक्ति नहीं है, तो फिर उससे सम्यक्दर्शन तो हो ही कैसे सकता है ?

पर के कारण मेरे परिणाम नहीं होते, मैं अपने से ही कषाय की मन्दता करता हूँ, पर के कारण या कर्म के कारण मेरी पर्याय में रागादि नहीं होते-ऐसी पर्याय की स्वतंत्रता की श्रद्धा, सो व्यवहारश्रद्धा है। मिथ्यात्व के रस को मंद करके पर्याय की स्वतंत्रता की श्रद्धा करने की जिसकी शक्ति नहीं है, उस जीव के सम्यक्दर्शन नहीं होता।

यदि इस समय पर्याय की स्वतंत्रता माने तो मिथ्यात्व मन्द होता है और उसको व्यवहार-सम्यक्त्व कहते हैं। मात्र कषाय की मन्दता के द्वारा मिथ्यात्व की मन्दता होती है, उसे व्यवहार-सम्यक्त्व नहीं कहते, क्योंकि श्रद्धा और चारित्र की पर्याय भिन्न-भिन्न हैं।

जो जीव, जड़ की क्रिया अथवा कर्म को लेकर आत्मा के परिणाम मानते हैं, उन्होंने परिणामों की स्वतंत्रता भी नहीं मानी है। यदि वे शुभभाव करें तो भी उनके मिथ्यात्व की मन्दता यथार्थ रीति से नहीं होती, और वे द्रव्यलिंगी से भी छोटे हैं। जिनके अशुभ परिणाम होते हैं, ऐसे जीवों की अभी बात नहीं है, किन्तु यहाँ तो मन्दकषायवाले जीवों की बात है, जो जीव अपने परिणामों की स्वतंत्रता को नहीं जानते, उनके मन्दकषाय होने पर भी व्यवहारश्रद्धा तक नहीं होती।

जो जीव, पर्याय की स्वतंत्रता मानते हुए भी पर्यायबुद्धि में अटके हैं, वे जीव भी मिथ्यादृष्टि हैं।

जो अंशत: स्वतन्त्र है—ऐसी व्यवहारश्रद्धा करने की शक्ति, कषाय की मन्दता में नहीं है। मैं अपने परिणामों में अटका हूँ, इसी से विकार होता है-ऐसी अंशत: स्वतंत्रता माने तो स्वयं उसका निषेध करे। किन्तु यदि ऐसा माने कि पर विकार कराता है, तो स्वयं कैसे उसका निषेध कर सकता है ? निमित्त या संयोग से मेरे परिणाम नहीं होते, इसप्रकार अंशत: स्वतंत्रता करके त्रिकाल स्वभाव में उस अंश का निषेध करना, सो ही निश्चयश्रद्धा-सम्यक्दर्शन है।

कषाय की मन्दता, वह उस समय की पर्याय का स्वतंत्र कार्य है, तथापि जो जीव देव, गुरु, शास्त्र से लाभ और कर्म से हानि मानते हैं, उनके व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है, तब वे अंश का निषेध करके त्रिकाली स्वभाव की श्रद्धा क्यों करेंगे ? कषाय की मन्दता तो अभव्य भी अनन्तबार करते हैं। पर्याय स्वतंत्र है-ऐसी आंशिक स्वतंत्रता को स्वीकार किये बिना मिथ्यात्व का रस भी यथार्थरूप से मन्द नहीं होता।

प्रश्न :- कषाय की मन्दता या मिथ्यात्व-रस की मन्दता, इन दोनों में से कोई भी मोक्षमार्गरूप नहीं है, तो उनमें क्या अन्तर है ?

उत्तर :- यहाँ दोनों के पुरुषार्थ का अन्तर बतलाना है। किन्तु पर्याय की स्वतंत्रता स्वीकार करने से कहीं मोक्षमार्ग नहीं हो जाता। पर्याय की स्वतंत्रता भी अनंत बार मानी, तथापि सम्यग्दर्शन नहीं हुआ किन्तु यहाँ व्यवहार से उन दोनों में जो अन्तर है, वह बतलाना है।

कषाय की मन्दता करने से कहीं व्यवहारश्रद्धा नहीं होती, क्योंकि व्यवहारश्रद्धा का पुरुषार्थ उससे भिन्न है। यद्यपि दोनों पुण्य और मिथ्यात्व हैं, किन्तु मिथ्यात्व के रस की अपेक्षा से उनमें अन्तर है।

जिसप्रकार कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र की श्रद्धा और सुदेवादि की श्रद्धा दोनों मिथ्यात्व हैं, तथापि कुदेवादि की श्रद्धा में तीव्र मिथ्यात्व है और सुदेवादि की श्रद्धा में मन्द, इसीप्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। दो जीव, शुभभाव करते हैं, उनमें से एक अपनी पर्याय को स्वतंत्र नहीं मानता तथा दूसरा शास्त्रादि के ज्ञान से पर्याय की स्वतंत्रता मानता है, उनमें पहले जीव को व्यवहारज्ञान भी यथार्थ नहीं है, दूसरे जीव को व्यवहारज्ञान है। इस अपेक्षा से दोनों के पुरुषार्थ में अन्तर समझना चाहिये। परमार्थ से दोनों समान हैं।

पहले पर्याय को स्वतंत्र समझे बिना कौन त्रिकाली स्वभाव की ओर उन्मुख होगा? व्यवहार-श्रद्धा मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु पर्याय की स्वतंत्रता का ज्ञान अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख होने के लिये प्रयोजनभूत है। जो वर्तमान पर्याय की स्वतंत्रता को नहीं मानता, वह सर्व विभावों से रहित चैतन्य को कैसे मानेगा? जो राग की स्वतंत्रता नहीं मानता, वह रागरहित स्वभाव को भी नहीं मानेगा।

यहाँ पर यह बताया है कि मात्र कषाय की मंदता में अनेक जीव लग जाते हैं, किन्तु उन्हें व्यवहारश्रद्धा तक नहीं होती, उनके मिथ्यात्वरस की यथार्थ मंदता नहीं होती। जो जीव, पर्याय की स्वतंत्रता मानते हैं, उनके कषाय की मंदता तो सहज ही होती है, किन्तु वह मोक्षमार्ग नहीं है। जब अपने स्वभाव को स्व से परिपूर्ण और सर्व विभावों से रहित माने तथा पर्याय के लक्ष को गौण करके ध्रुव चैत्न्यस्वभाव का आश्रय ले, उस समय स्वभाव की श्रद्धा से ही सम्यग्दर्शन होता है।

आजकल के त्यागी-व्रतधारियों की व्यवहारश्रद्धा भी सच्ची नहीं है, जो यह नहीं जानते कि अपने परिणाम स्वतंत्र हैं, उनके तो दर्शनशुद्धि का व्यवहार भी यथार्थ नहीं है, मिथ्यात्व की मंदता भी वास्तविक नहीं है। वस्तुस्वरूप ही ऐसा है, वह किसी की अपेक्षा नहीं रखता। त्यागादि के शुभ परिणामों द्वारा वस्तुस्वरूप की साधना नहीं हो सकती।

त्रैकालिक स्वभाव स्वतंत्र है, उसका प्रत्येक अंश स्वतंत्र है। मेरे त्रिकाल स्वभाव में रागादि परिणाम नहीं हैं; इसप्रकार स्वभावदृष्टि करके पर्यायबुद्धि को छोड़ दे, तभी सम्यक्दर्शन होता है, और मोक्षमार्ग भी तभी होता है। द्रव्यलिंगी जीव, पर्याय को तो स्वतंत्र मानते हैं किन्तु पर्यायबुद्धि को नहीं छोड़ते, त्रिकाली स्वभाव का आश्रय नहीं करते, इसी से उनके मिथ्यात्व रहता है। वे जीव शास्त्र में लिखा हुआ अधिक मानते हैं, किन्तु स्व में स्थिर नहीं होते। परलक्ष से पर्याय की स्वतंत्रता मानते हैं किन्तु यथार्थतया स्वभाव में रागादि भी नहीं हैं—ऐसी श्रद्धा के बिना परमार्थ से आंशिक स्वतंत्रता की मान्यता भी नहीं कही जाती।

'कर्म विकार कराते हैं अथवा निमित्ताधीन होकर विकार करना पड़ता है' इत्यादि प्रकार से जिन्होंने पर्याय को ही पराधीन माना है, उन जीवों ने तो उपादान-निमित्त को ही एकमेक माना है। निमित्त को लेकर अपनी पर्याय न माने, किन्तु ऐसा माने कि यह स्वतंत्र है, तथापि पर्याय में जो विकार होता है, उसे स्वरूप मानकर अटक जाये तो वह मिथ्यात्व का अभाव नहीं होता है।

जो यह मानते हैं कि परद्रव्यों की क्रिया से अपने परिणाम होते हैं, उनके मन्दकषाय होने

पर भी मिथ्यात्व का रस यथार्थतया मन्द नहीं पड़ता, तथा शास्त्रज्ञान भी सच्चा नहीं होता।

मेरी पर्याय परद्रव्य से नहीं होती किन्तु स्वतंत्र मुझसे ही होती है–इसप्रकार पर्याय की स्वतंत्रता के माने, तब मिथ्यात्व का रस मन्द होता है, और सच्चा शास्त्रज्ञान भी होता है, उसे व्यवहारश्रद्धा–ज्ञान कहते हैं, वहाँ कषाय की मन्दता होती ही है। किन्तु अभी पर्यायदृष्टि है, इसलिये सम्यग्दर्शन नहीं होता।

जो त्रैकालिक चैतन्यस्वभाव है, वह अंशमात्र (पर्याय जितना) नहीं है, स्वभाव से परिपूर्ण और विभाव से रहित है, ऐसी श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है, वही अपूर्व पुरुषार्थ एवं मोक्षमार्ग है। मन्दकषाय का पुरुषार्थ अपूर्व नहीं है, वह तो जीव ने अनन्तबार किया है; इसलिये उसे सीखना नहीं पड़ता क्योंकि वह कोई नवीन नहीं है। किन्तु जीव ने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का उपाय कभी भी नहीं किया, इसलिये वही अपूर्व है और वही कल्याण का कारण है।

जीवों ने श्रद्धा और ज्ञान का व्यवहार तो अनन्तबार सुधारा है, तथापि निश्चयश्रद्धा, ज्ञान के अभाव के कारण उनका हित नहीं हुआ। अधिकांश लोग धर्म के नाम से बाह्य क्रियाकाण्ड में ही अटक गये हैं, और उनके व्यवहारश्रद्धा, ज्ञान भी यथार्थ नहीं होता, इसलिये यहाँ यथार्थ समझाया है कि व्रत प्रतिमा अथवा दया–दानादि के शुभपरिणामों से व्यवहारश्रद्धा–ज्ञान नहीं होता, वे उसके उपाय नहीं है। व्यवहारश्रद्धा–ज्ञान कैसे होता है तथा सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान कैसे प्रगट होता है, वह यहाँ पर समझाया है।

अनोखी वाणी

(अंक ४१ से आगे)

(पंडित प्रवर श्री टोडरमलजी कृत मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों से)

'मैं इसे ले लूं और इसे छोड़ दूं' ऐसा तू अज्ञान से मान रहा है, किन्तु तुझसे पर में कोई अदला–बदली नहीं हो सकती। तेरा काम तो मात्र ज्ञान करने का है, विकार करने का काम वास्तव में तेरा नहीं है। इसलिये पर के कर्तृत्व की मान्यता छोड़, पर में मेरा सुख है—ऐसी मान्यता छोड़, विकार मेरा स्वरूप है, यह मान्यता भी छोड़ दे और पर से तथा विकार से भिन्न मात्र चैतन्यस्वरूप अपने आत्मा की पहिचान करके उसकी श्रद्धा कर।

— आत्मा स्वयं चैतन्यस्वरूप होने पर भी उसकी भूल कैसे हुई ? —

प्रश्न :- आत्मा स्वयं चैतन्यस्वरूप, जड़ से भिन्न है, तथापि 'मैं शरीर का और विकार का कर्ता हूँ' उसकी यह भूल कैसे हुई ?

उत्तर :- इस आत्मा को अनादिकाल से इन्द्रियजनित ज्ञान है। उस इन्द्रियजनित ज्ञान के द्वारा स्वयं चैतन्यस्वरूप अमूर्तिक हूँ—ऐसा तो अपने को जानता नहीं किन्तु मूर्तिक शरीर को ही जानता है। और इसी से स्वयं अपने मूलस्वरूप के नहीं जानने से किसी अन्य को अपनेरूप मानकर उसमें अहंबुद्धि अवश्य धारण करता है। अपने आपको पर से भिन्न चैतन्यस्वरूप नहीं जाना, इसलिये जड़ शरीर में और शरीर के लक्ष से होनेवाले विकारी भावों में ही वह अपना स्वरूप मान रहा है। इसप्रकार इन्द्रियज्ञान के अवलम्बन को लेकर अपने सच्चे स्वरूप की अप्रतीति ही समस्त भूल का मूल है।

— यह भूल कैसे दूर हो ? —

इस भूल को दूर करने के लिये आत्मा का सच्चा स्वरूप सम्यग्ज्ञान द्वारा जानना चाहिये। इसलिये श्री गुरुदेव कहते हैं कि-तू इन्द्रियाश्रित ज्ञान को छोड़कर आत्माश्रित सम्यग्ज्ञान से देख, तो तुझे आत्मा के शुद्धस्वरूप का ज्ञान हो। जड़ से भिन्न आत्मा का स्वरूप और उसकी चैतन्य क्रिया सम्यग्ज्ञान से ज्ञात हो तथा यह जानते ही जड़ की और विकारी क्रिया का स्वामित्व दूर हो जाये। अन्तरंगस्वभाव की ओर उन्मुख होकर, शान्त होकर, अतीन्द्रियज्ञान से अन्तरंग नहीं देखता और मात्र इन्द्रियज्ञान से पर की आरे ही देखता रहता है। आत्मा या आत्मा के भाव इन्द्रियज्ञान से जाने जायें, ऐसा नहीं हैं। जड़-चेतन के पृथक्त्व का न्यायी (योग्य) ज्ञान-सच्चा ज्ञान प्रगट करना आत्मा के आधीन है, यह भेदज्ञान करने की शक्ति अतीन्द्रियज्ञान में है। वह ज्ञान, चैतन्यस्वभाव के आश्रय से ही प्रगट होता है। इन्द्रियाँ तो जड़ हैं, उनके आश्रय से होनेवाले इन्द्रियज्ञान में न्याय करने की अर्थात् जड़-चेतन का भेदज्ञान करने की शक्ति नहीं है।

श्री परमात्मप्रकाश

[पर परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों का कुछ सार]

[१] ग्रन्थकर्ता

इस परमात्मप्रकाश ग्रन्थ के रचयिता श्री योगीन्द्रदेव वनवासी निर्ग्रन्थ संतमुनि थे, आत्मानुभवदशा में वे छट्ठे-सातवें गुणस्थान में विद्यमान थे।

[२] दिव्यध्वनि-नमस्काररूप मंगलाचरण

शास्त्र के प्रारम्भ में मांगलिकरूप से दिव्यध्वनि 'ॐ' को नमस्कार किया गया है। आत्म के पूर्ण स्वभाव को समझकर पूर्ण परमात्मदशा प्रगट करने के लिये वह निमित्त है अर्थात् जो स्वभाव को समझकर पूर्णदशा प्रगट करे, उसे दिव्यध्वनि निमित्त है; इसीलिये उसे मंगलाचरण के रूप में नमस्कार किया जाता है।

[३] इस ग्रंथ का विषय

आत्मा परमात्मस्वरूप है, शक्तिरूप परमात्मा है, उसका प्रकाश किस प्रकार हो अर्थात् परमात्मदशा कैसे प्रगट हो?—उसका उपाय इस शास्त्र में बताया है, इससे इसका नाम 'परमात्मप्रकाश' हैं। जिसमें केवलज्ञान-केवलदर्शन अनंतसुख और अनंतवीर्यरूप स्वचतुष्टय प्रगट होते हैं, वह परमात्मदशा है। आत्मा के स्वभाव में शक्तिरूप अनंतचतुष्टय त्रिकाल विद्यमान है, उसकी श्रद्धा-मनन करने से आत्मा स्वयं ही परमात्मदशारूप प्रकाश को प्राप्त होता है-प्रगट होता है, ऐसा इस शास्त्र में वर्णन है।

[४] मंगलाचरण

प्रथम मूल ग्रन्थकार श्री योगीन्द्रदेव मंगलाचरण करते हैं:-

दोहा

जे जाया झाणग्गियए कम्मकलंक डहेवि।
णिच्च निरंजन णाणमय ते परमप्प णेवेवि॥१॥

अर्थ :—जो ध्यानरूपी अग्नि से भावकर्म और द्रव्यकर्मरूपी कलंक को भस्म करके नित्य-निरंजन-ज्ञानमय सिद्धपरमात्मा हो गए हैं, उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ।

इस ग्रंथ के टीकाकार श्री ब्रह्मदेवजी हैं, उन्होंने टीका में नयों का विशेष स्पष्टीकरण किया है। मंगलाचरण के रूप में टीकाकार-सिद्धात्मा को नमस्कार करते हैं:-

(अनुष्टुप्)

चिदानन्दैकरूपाय जिनाय परमात्मने।
परमात्मप्रकाशाय नित्यं सिद्धात्मने नमः ॥१॥

अर्थ :— जो मात्र ज्ञान-आनन्दस्वरूप हैं, जिन हैं, परमात्मा हैं—ऐसे श्री सिद्धभगवान को परमात्मप्रकाश की प्राप्ति के लिये सदा नमस्कार हो।

इस ग्रंथ के हिन्दी भाषांतर कर्ता पंडित श्री दौलतरामजी हैं। छहढाला के रचयिता पंडित दौलतरामजी और यह पंडित दौलतरामजी दोनों भिन्न हैं। भाषांतर कर्ता मंगलाचरण करते हैं:—

दोहा

चिदानन्द चिद्रूप जो, जिनपरमातमदेव।
सिद्धरूप सुविशुद्ध जो, नमों ताहि करि सेव॥१॥
परमातम निजवस्तु जो, गुण अनन्तमय सुद्ध।
ताहि प्रकासन के निमित्त वंदूँ देव प्रबुद्ध॥२॥

अर्थ:—जो ज्ञानानंदस्वरूप हैं, जिन परमात्मा देव हैं, ऐसे सम्पूर्ण शुद्ध सिद्ध भगवंत को भक्तिपूर्वक नमस्कार हो.... किसलिये नमस्कार किया जाता है? अपना स्वभाव अनन्तगुणमय शुद्ध परमात्मस्वरूप है, उसके प्रकाशन के लिये (अर्थात् परमात्मदशा प्रगट करने के लिये) ज्ञानस्वरूपी देव को मैं नमस्कार करता हूँ।

[५] परमात्मदशा प्रगट होने का उपाय ध्यान है।

''मैं परमात्मा ही हूँ''—ऐसी दृष्टि के बल से परमात्मदशा प्रगट करना, इसी का नाम परमात्मप्रकाश है। आत्मा त्रिकाल परमात्मास्वरूप ही है, उस स्वरूप की दृष्टि ही मुक्ति का कारण है। यहाँ जो त्रिकाल परमात्मस्वरूप है, उसका ध्यान करना ही परमात्मदशा का उपाय बतलाया है।

परमात्मशक्ति त्रिकाल है, उसका ध्यान करने से 'परमात्मदशा प्रगट हुई' यह पर्यायदृष्टि का कथन है और जो 'त्रिकाल परमात्मस्वभाव है' सो द्रव्यदृष्टि है। इस परमात्मा की श्रद्धा करके सम्यक्दर्शन प्रगट करना, वह भी परमात्मा का निर्विकल्प ध्यान है। सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों परमात्मा के ध्यान से ही प्रगट होते हैं और वे तीनों निर्विकल्प ही हैं।

[६] द्रव्य-गुण-पर्याय को पहिचाने बिना धर्म नहीं होता

परमात्मशक्ति त्रिकाल है, किन्तु यहाँ उसकी पर्याय के प्रगट होने की बात है। द्रव्य-गुण-

पर्याय अर्थात् क्या ? द्रव्य त्रैकालिकशक्ति है, उसकी प्रतीति के बिना पर्याय में धर्म प्रगट नहीं होता। धर्म तो पर्याय में है। द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को जाने बिना धर्म कहाँ से और किसमें करेगा ?

परमात्मशक्ति त्रिकाल है, वह कभी नवीन प्रगट नहीं होती और उसका विनाश भी कभी नहीं होता। द्रव्य और उसकी शक्ति (अर्थात् गुण) त्रिकाल है, उसकी पर्याय नवीन प्रगट होती है। इस द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने बिना धर्म नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि धर्म करने के लिये द्रव्य-गुण-पर्याय के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, तो उसकी बात मिथ्या है। अपने द्रव्य-गुण-पर्याय के साथ ही धर्म का सम्बन्ध है, इसलिये उसका ज्ञान अवश्य करना चाहिये।

[७] निश्चय मोक्षमार्ग जीव का त्रैकालिक स्वरूप नहीं है

जो मात्र आत्मस्वभाव है, वह न तो कभी ढंकता है और न प्रगट ही होता है। जो ढंकती है और प्रगट होती है, वह तो पर्याय है। परमात्मा का ध्यान पर्याय है। निश्चय सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो निर्मल पर्याय है-मोक्षमार्ग है, वह भी जीव का त्रैकालिकस्वरूप नहीं है, उसे जीव का स्वरूप कहना भी उपचार है-व्यवहार है, क्योंकि उसका भी नाश होकर पूर्णदशा प्रगट होती है। जीव के मूलस्वरूप में राग-द्वेष नहीं है और अपूर्ण पर्याय भी जीव का मूल स्वरूप नहीं है।

[८] कारणसमयसार और कार्यसमयसार

यहाँ मोक्षरूप पर्याय को कारणसमयसार कहा है। त्रिकाली स्वभाव सो 'कारणसमयसार है' यह बात यहाँ पर नहीं ली है। यहाँ पर पर्याय में मोक्षमार्ग की बात और मोक्ष का मार्ग है, सो मोक्ष का कारण है अर्थात् मोक्षमार्ग, कारणसमयसार है और जो पूर्ण अनंतचतुष्टरूप प्रगट दशा है, सो कार्य समयसार है। यह दोनों पर्यायें हैं, इसलिये व्यवहार है और जो त्रिकाली परमात्मस्वभावरूप द्रव्य है, सो निश्चय है। कारणसमयसार कहो अथवा कारणपरमात्मा, वे दोनों एक ही हैं, उसी प्रकार कार्यसमयसार और कार्यपरमात्मा भी एक ही हैं।

[९] द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि का विवेचन

द्रव्यदृष्टि से तो आत्मा त्रिकाल सिद्ध समान पूर्ण है। उसमें सिद्धदशा नहीं थी या प्रगट हुई-ऐसे दो भेद नहीं हैं। किन्तु पर्यायदृष्टि से सिद्धदशा अनादि से नहीं थी और वह नवीन प्रगट होती है, इसी से 'अभूतपूर्व सिद्धदशा प्रगट हुई' ऐसा कहा जाता है। यहाँ पर परमात्मदशा प्रगट होने का

उपाय निर्विकल्प ध्यान ही कहा है। अज्ञानी विपरीत ध्यान करते हैं अर्थात् जो 'रागादि हैं, सो मैं हूँ' —ऐसी विपरीत श्रद्धा से ध्यान करते हैं; इसलिये वे परिभ्रमण करते हैं। उस राग के आश्रय को छोड़कर त्रैकालिकस्वभाव की श्रद्धा करके उसका ध्यान करने से सिद्धदशा प्रगट होती है; वह सिद्धदशा नवीन प्रगट होती है, इसलिये 'अभूतपूर्व' है। संसारदशा दूर होकर सिद्धदशा प्रगट हुई, वह कथन पर्यायदृष्टि का है, त्रैकालिकस्वभाव का नहीं।

[१०] द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय किसे जानते हैं

वर्तमान पर्याय को देखनेवाली दृष्टि, सो पर्यायदृष्टि है और त्रैकालिक स्वभाव को देखने वाली दृष्टि, सो द्रव्यदृष्टि है।

जो त्रैकालिक द्रव्यस्वभाव को जानता है और उसका कथन करता है, सो द्रव्यार्थिकनय है। उसमें जो त्रैकालिक द्रव्य को जाननेवाला ज्ञान है, वह अंतरंगनय (अर्थनय अथवा भावनय) है, और उसे कहनेवाले वचन सो बहिर्नय (वचनात्मक नय अर्थात् शब्दनय) कहा जाता है तथा जो ज्ञान, वर्तमान पर्याय को जानता है, उस ज्ञान को और उसका कथन करनेवाले वचन को पर्यायार्थिकनय कहते हैं। उसमें जो पर्याय को जाननेवाला ज्ञान है, सो अंतरंगनय है और उसका कथन करनेवाला वचन, सो बहिर्नय है।

जो सिद्धदशा को जाननेवाला ज्ञान है, सो पर्यायार्थिकनय है, किन्तु सिद्धदशा प्रगट होने का उपाय पर्यायदृष्टि नहीं है। द्रव्यदृष्टि ही सिद्धदशा प्रगट करने का उपाय है; किन्तु जो सिद्धदशा प्रगट होती है, उसे जाननेवाला पर्यायार्थिकनय है।

द्रव्यार्थिकनय द्रव्य को मुख्यतया जानता है; यहाँ पर द्रव्य अर्थात् क्या? द्रव्य और पर्याय दोनों एकत्रित होकर जो द्रव्य कहलाता है, वह नहीं अर्थात् गुण-पर्याय का पिंड, सो द्रव्य-यहाँ यह अपेक्षा नहीं है; किन्तु यहाँ तो वर्तमान अंश को गौण करके जो त्रैकालिक शक्ति है, सो द्रव्य है, वह सामान्यस्वभाव है, और जो वर्तमान अंश है, सो विशेष है-पर्याय है। यह दोनों मिलकर जो सम्पूर्ण द्रव्य है, सो वह प्रमाण का विषय है और उसमें से जो सामान्यस्वभाव है, सो द्रव्यार्थिकनय का विषय है तथा विशेष पर्याय, पर्यायार्थिकनय का विषय है। उसमें से द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि में पर्याय गौण है, अर्थात् उस नय की दृष्टि से सिद्धदशा प्रगट हुई, यह बात नहीं आती। जो त्रैकालिक शुद्ध ज्ञानस्वभाव है, सो वह द्रव्यदृष्टि का विषय है तथा उसके ही आश्रय से निर्मल पर्याय प्रगट होती है। द्रव्य का विश्वास करने से ही पर्याय में निर्मलता होती है।

द्रव्यार्थिकनय से इस जगत में जितने आत्मा हैं, वे प्रत्येक आत्मा शुद्ध-बुद्ध परमात्मस्वभाव ही हैं। समस्त लोक परमात्मस्वभावी शुद्ध-बुद्ध जीवों से परिपूर्ण हैं। किन्तु समस्त आत्मा मिलकर एक अद्वैतब्रह्म है-ऐसा नहीं समझना चाहिये। लोक में सर्वत्र आत्मा भरे हुए हैं और वे प्रत्येक आत्मा द्रव्यदृष्टि से पूर्ण परमात्मा हैं।

[११] सोने के दृष्टान्त से परमात्मस्वभाव की प्रतीति

जैसे स्वर्ण पाषाण में जो सोना है, वह प्रति समय सोना ही है, पत्थर के साथ है, तथापि उस समय उसका स्वर्णत्व दूर नहीं हो गया, और जब उसे पृथक् कर देते हैं, उस समय भी वह स्वर्ण ही है। सोना प्रगट हुआ (अर्थात् शुद्ध हो गया), यह तो पर्याय की अपेक्षा से कहा जाता है किन्तु शक्ति तो स्थायी है। उसीप्रकार परमात्मदशा आत्मा में त्रिकाल शक्तिरूप से विद्यमान है। संसारदशा के समय भी परमात्मस्वभाव शक्तिरूप से है; इसका न तो कभी नाश हुआ है और न कभी यह नवीन ही प्रगट होता है, किन्तु इसकी पहिचान-श्रद्धा करने से नवीन परमात्मदशा प्रगट होती है, यही सुख है।

[१२] सुखरूप क्या है और दुःखरूप क्या है ?

जब तक प्रतिभासित होता है कि अशुभगति में दुःख है किन्तु यह आभास नहीं होता कि समस्त संसार ही दुःखरूप है, तबतक अज्ञान है, संयोग की रुचि है। स्वर्ग में जाकर बड़ा देव हो तथा अनुकूल सामग्रियाँ उपस्थित हो, वह भी दुःखरूप है, सारा संसार दुःखमय है और मात्र परमात्मदशा ही पूर्ण सुखरूप है-जबतक यह न माने, तबतक अज्ञान है। जबतक यह नहीं मानेगा कि स्वर्गादि गतियों में भी दुःख है, तबतक नरक-तिर्यंच गति के दुःखों का प्रतिभास भी उसे बराबर नहीं होगा; किन्तु मात्र प्रतिकूलता का भय और अनुकूलता की रुचि है। जिन्हें यह प्रतिभासित नहीं होता कि-पुण्य के फल और पाप के फल दोनों दुःखरूप हैं तथा स्वभाव ही सुखस्वरूप है-उसे स्वभाव की रुचि नहीं है किन्तु संयोग की ही रुचि है।

[१३] अनन्तसुख कहाँ है ? द्रव्य में अथवा पर्याय में ?

द्रव्य में अनन्तसुख त्रिकाल शक्तिरूप से है और पर्याय में भी अनन्त सुख प्रगट होता है। पर्याय में जो अनंत आनन्द है, वह एक समयमात्र का है और द्रव्य में ऐसे ही अनन्तानन्त पर्याय का आनन्द त्रिकाल शक्तिरूप से विद्यमान है जब उस त्रैकालिक द्रव्य की श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता करता है, तब पर्याय में अनन्त आनन्द का अनुभव होता है।

[१४] शुद्धनय से समस्त आत्मा त्रिकाल शुद्ध हैं, किन्तु पर्याय में किसप्रकार शुद्धता प्रगट हो ?

शुद्धनय से समस्त आत्मा त्रिकाल शुद्ध हैं; निगोद के आत्मा में भी त्रिकाल केवलज्ञानदशा प्रगट करने की शक्ति है। यहाँ पर पहले आत्मा के त्रिकाल शुद्धस्वभाव को बतलाते हैं, उस त्रैकालिक शुद्धस्वभाव की श्रद्धा करके ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा ही परमात्मदशा प्रगट की जा सकती है।

शुद्धनय से समस्त आत्मा शुद्ध हैं 'सर्व जीव हैं सिद्धसम' यह शुद्धनय से है; और 'जो समझे वह होय' यह पर्याय की बात है। समस्त आत्मा शुद्धनय से शुद्ध परमात्मा हैं, किन्तु वह परमात्मदशा किसप्रकार प्रगट हो ? जिसप्रकार स्वर्णपाषाण में स्वर्ण निकालने का उपाय उसे अग्नि में तपाना है, उसी प्रकार आत्मा में परमात्मदशा प्रगट करने के लिये कौन सी अग्नि है ? जो परमात्मस्वभाव त्रिकाल है, उसका ध्यान ही परमात्मदशा प्रगट करने का उपाय है। इस ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा कर्मकलंक को भस्म करके सिद्धदशा प्रगट होती है। ध्यान कहने से उसमें सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आ जाते हैं। प्रारम्भ से पूर्णदशा होने तक शुद्ध आत्मा का ध्यान करना ही उपाय है।

अष्टप्राभृत

[श्री अष्टप्राभृत शास्त्र पर किये गये पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों का कुछ सार]

[१५४] सम्यक्त्व के आदर का फल

इस दर्शनप्राभृत की बारहमी गाथा के भावार्थ में पंडित जयचन्द्रजी ने बताया है कि जो जीव दर्शन भ्रष्ट है, सो मिथ्यादृष्टि है और जो दर्शन का धारक है, सो सम्यग्दृष्टि है। जो स्वयं मिथ्यादृष्टि होते हुए सम्यक्दृष्टिओं द्वारा नमस्कार चाहता है अथवा स्वयं जो सम्यग्दृष्टिओं को नमस्कार नहीं करता, वह जीव मिथ्यादृष्टि है तथा परभव में वह अपंग-मूक होता है-कहने का तात्पर्य यह है कि वह एकेन्द्रिय होता है, जिसके कि पग और भाषा नहीं होती, इसलिये परमार्थतः वह अपंग-मूक

है। इसप्रकार वह मिथ्यादृष्टि जीव एकेन्द्रिय-स्थावर होकर निगोद में जाता है और वहाँ अनन्तकाल बिताना पड़ता है, उस जीव को दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है। मिथ्यात्व का फल निगोद ही कहा है। इस पंचमकाल में मिथ्यामत का आचार्य होकर जो लोगों द्वारा विनय, पूजादिक चाहता है, उस जीव का त्रसराशि का समय पूर्ण हो गया है और अब वह एकेन्द्रिय होकर निगोद में वास करेगा - ऐसा आचार्यदेव बतलाते हैं। यदि इसके विपरीत कहा जाये तो जो जीव सम्यग्दर्शन की आराधना करते हैं, उन जीवों के संसार का अन्त होने वाला है और वे जीव अल्पकाल में ही अतीन्द्रिय सिद्धदशा को प्राप्त करेंगे। - १२-

[१५५] मिथ्यात्व की अनुमोदना

तेरहवीं गाथा में कहते हैं कि-यदि लज्जा-भय आदि के कारण कोई दर्शनभ्रष्ट जीव की विनय करे तो उसमें मिथ्यात्व की अनुमोदना होती है। जब दर्शनभ्रष्ट को श्रेष्ठ जानकर उसका वंदन करता है, तब स्वयं तो उससे भी नीचा हुआ, तो फिर उसे बोध किसप्रकार होगा ? अर्थात् नहीं होगा ऐसा जानना चाहिये। -१३-

[१५६] जो द्रव्यस्वभाव को समझता है, उसे पर्याय का विवेक होता ही है

जो आत्मा के शुद्ध परिपूर्ण रागरहित त्रैकालिक स्वभाव को जानते हैं, उन जीवों को आत्मा की पवित्र पूर्णदशा, साधकदशा तथा अंतर-बाह्य स्थिति की पहिचान होती ही है, क्योंकि त्रैकालिक द्रव्य की पहिचान हो और वर्तमान पर्याय का विवेक न हो-ऐसा हो ही नहीं सकता। तथा जिनके पर्याय के स्वरूप में ही भूल होती है, उनके द्रव्यस्वरूप की प्रतीति में भी भूल होती ही है।

[१५७] जो केवलज्ञान में अशनादि मानते हैं, वे जीव मिथ्यादृष्टि किसलिए ?

आत्मा का त्रैकालिकस्वभाव तो ज्ञानस्वरूप है, उसके राग है ही नहीं, और उसकी परिपूर्ण केवलदशा में भी राग का अभाव होता है, इसलिये उस दशा में स्थित जीव के अशन (कवलाहार), रोग, औषधि इत्यादि राग के निमित्त भी नहीं होते। पूर्ण केवलज्ञानदशा में स्थित जीव के भी जो आहारादि मानते हैं, वे पूर्णदशा को भी रागयुक्त मानते हैं, इसलिये उन्हें पूर्ण पवित्रदशा के स्वरूप की खबर नहीं है। जिन्हें आत्मा की मात्र पूर्णदशा का ही मान नहीं है, उन्हें आत्मा के त्रैकालिक पूर्ण स्वभाव की प्रतीति हो ही नहीं सकती, इसलिये वे मिथ्यादृष्टि हैं।

[१५८] जो साधक मुनियों के वस्त्रादि मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि किसलिये ?

मुनिदशा, आत्मा की पूर्ण परमात्मदशा की साधकरूप है और वीतरागता की साधक होने से

उस दशा में तीव्र राग नहीं होता। क्योंकि अशरीरी सिद्धदशा की साधकरूप अवस्था में शरीर के ऊपर तीव्रराग हो ही नहीं सकता, और तीव्र राग के अभाव में वस्त्र, पात्र इत्यादि तीव्र राग के निमित्त अवश्य ही दूर हो जाते हैं। इसप्रकार जिस जीव के मुनिदशा प्रगट हुई हो, उस जीव के वस्त्रादि का संयोग अथवा राग होता ही नहीं। वस्त्रादि का तीव्र राग होने पर भी जो उनके मुनिदशा मानते हैं, वे पवित्र-साधक मुनिदशा के स्वरूप को नहीं जानते, तथा जो साधकदशा के स्वरूप को नहीं जानते, वे साध्यदशा के स्वरूप को भी नहीं जानते और त्रैकालिक आत्मस्वभाव को भी वे नहीं जानते। आचार्यदेव कहते हैं कि जो ऐसे जीवों को धर्मात्मा के रूप में मानकर उनकी वन्दना करते हैं, वे जीव तीव्र मिथ्यादृष्टि हैं।

[१५९] जिनके देव-गुरु सम्बन्धी भूल होती है, उनके नवतत्त्वों में भूल होती ही है

जिन्होंने देव-गुरु के स्वरूप को विपरीत माना है, उनकी तत्त्वश्रद्धा ही विपरीत है। देवपना और गुरुपना तो आत्मा की ही निर्मल पर्यायें हैं; जिन्होंने आत्मा की निर्मल पर्यायों को विपरीत माना है, उन्होंने आत्मा को ही विपरीत स्वरूप से माना है; इसलिये वे मिथ्यादृष्टि ही हैं। आत्मा की पूर्णदशा में राग न होने पर भी जीव को जो राग कार्य (आहारादि) मनवाते हैं; उन्होंने मोक्षतत्त्व को पहिचाना ही नहीं। साधक मुनिदशा में अधिकांश वीतरागता प्रगट हो जाती है और उस दशा में जीव को शरीर के ऊपर के राग का अभाव होता है। ऋतु आदि के प्रकोप से शरीर की रक्षा करने की वृत्ति ही नहीं होती। जिसप्रकार आत्मा वीतरागभावों के द्वारा संकुचित होकर स्वरूप में स्थिर हो जाता है, उसीप्रकार इन्द्रियां भी जैसे संकुचित होकर अंतरंग में स्थिर हो गई हों-ऐसी निर्विकारी दशा मुनियों के सहज ही होती है। ऐसी दशा में वस्त्रादि के ग्रहण का विकल्प ही नहीं होता; फिर भी जो ऐसी साधकदशा में स्थित पवित्र आत्माओं को वस्त्रादि बतलाते हैं, उन्होंने संवर-निर्जरा तत्त्व को विपरीत माना है। आचार्यदेव कहते हैं कि इसप्रकार जो तत्त्व के स्वरूप को विपरीत मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं।

[१६०] कुगुरु-कुदेव की मान्यता और उससे हानि

देवपद सम्पूर्ण वीतराग है, और मुनिपद वस्त्रादि के राग से रहित हैं; तीव्र रागयुक्त दशा होने पर भी जो उसमें रागरहित मुनिदशा को मनवाते हैं, वे विकार में निर्विकारी पद की मान्यता कराते हैं, इसलिये उन्हें अभी निर्विकारीदशा का तथा विकार का सच्चा स्वरूप ज्ञात नहीं हुआ। आहारादि के दोषयुक्त जीवों को जो देवरूप से मानते हैं, वे कुदेवों को मानते हैं; और जो वस्त्रादि परिग्रहयुक्त

जीवों को गुरु के रूप में (साधु अर्थात् मुनि के रूप में) मानते हैं, वे कुगुरु को मानते हैं। इसप्रकार कुगुरु-कुदेव की मान्यता से और उनकी वंदना से अपनी श्रद्धा-ज्ञान में विपरीतता आती है और आत्मा की विराधना होती है, स्वयं को उसका महापाप है, किसी अन्य के कारण अपने को हानि नहीं है। पर का दोष उसके पास है, वही उसे हानि का कारण है किन्तु स्वयं अपने से वैसा कोई दोष हो, उसे दूर करना चाहिये। उस दोष को दूर किए बिना आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता।

[१६१] जो कुलदेवता को मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं

अज्ञानी जीव, भगवान को भी कुलदेवता मनवाते हैं। अरे, भगवान स्वयं त्रैलोक्यपूज्य देवाधिदेव हैं, इन्द्र भी जिनके चरणों में शीश झुकाते हैं और जन्मकल्याणक आदि महोत्सव मनाते हैं, उनके और दूसरा कौन कुलदेवता होता है! आत्मा की शुद्ध चैतन्यपरिणति ही आत्मा का कुलदेवता है; इसके अतिरिक्त जो किसी भी कुलदेवता को धर्मबुद्धि से अथवा लौकिकबुद्धि से मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

[१६२] द्रव्य-पर्याय के ज्ञान की संधि

यदि जीव अपने त्रैकालिक आत्मस्वभाव को जान ले तो वह इसे अवश्य ही जान लेता है कि आत्मा की पूर्ण निर्मलदशा और उसकी साधकदशा कैसी होती है। क्योंकि आत्मा तो त्रैकालिक पर्याय का पिण्ड है, उसमें केवलीदशा और मुनिदशा इत्यादि समस्त अवस्थाएँ अभेदरूप से आ जाती हैं, इसलिये त्रैकालिक आत्मा के यथार्थ ज्ञान के साथ ही साथ समस्त पर्यायों का भी यथार्थ ज्ञान आ जाता है। इसलिये जिन्हें पर्यायों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता उन्हें त्रैकालिक द्रव्य का भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता अर्थात् वे मिथ्याज्ञानी ही होते हैं।

[१६३] धर्म करने के इच्छुक जीवों को क्या करना चाहिए ?

मिथ्याज्ञानी जीव के किसी भी प्रकार का धर्म नहीं हो सकता; इसलिये धर्म करने के इच्छुक जीवों को देव-गुरु-धर्म सम्बन्धी यथार्थ प्रतीति करके आत्मस्वभाव की सच्ची पहिचान के द्वारा सम्यक्दर्शन प्रगट करने का प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि धर्म का मूल सम्यग्दर्शन ही है।

(गाथा १५)

[१६४] सम्यग्दर्शन से ही कल्याण है तथा मिथ्यात्व से अकल्याण!

अब पन्द्रहवीं गाथा में कहते हैं कि-सम्यक्दर्शन से ही कल्याण होता है क्योंकि सम्यग्दर्शन से सम्यक्ज्ञान होता है और सम्यक्ज्ञान से समस्त पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान

होता है। पदार्थों का स्वरूप जाने लेने से हेय-उपादेय का तथा कल्याण-अकल्याण का स्वरूप ज्ञात होता है। कल्याण-अकल्याण के स्वरूप को जान लेने से जीव कल्याण के उपायों का ग्रहण और अकल्याण के उपायों का त्याग कर सकता है। इसलिये सम्यक्दर्शन से ही कल्याण की प्राप्ति होती है। जबतक जीव के विपरीत मान्यतारूप मिथ्यात्व होता है, तबतक उसका ज्ञान मिथ्या है और इससे वह पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता तथा कल्याण और अकल्याण के उपायों को भी यथार्थरूप से नहीं पहिचानता; इसी से मिथ्यादृष्टि जीव, कल्याण का ग्रहण और अकल्याण का त्याग नहीं कर सकता। इसलिये जो मिथ्यात्व है, सो ही अकल्याण है।

[१६५] सम्यग्दर्शन होने पर क्या छूट जाता है ?

सम्यग्दर्शन के द्वारा स्वभाव की प्रतीति करने पर जैसे-जैसे पर्याय की निर्मलता बढ़ती है और विकार दूर होता है, वैसे ही क्रमशः उस दशा में विकार के निमित्त भी छूटते जाते हैं। जैसे जीव के सम्यक्दर्शन होने पर मिथ्यात्व भाव दूर हो जाते हैं और इसी से मिथ्यात्व के निमित्त भी दूर हो जाते हैं। कुगुरु-कुदेव-कुधर्म, यह मिथ्यात्व के निमित्त हैं; जीव को सम्यग्दर्शन होने पर उन निमित्तों का अवलंबन होता ही नहीं है, सम्यग्दर्शन की भूमिका में यह त्याग होता है।

[१६६] सम्यग्दर्शन होने पर समस्त भाव ज्ञात होते हैं

यहाँ पर आचार्य भगवान सम्यग्दर्शन के अपार माहात्म्य का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सम्यग्दर्शन होने पर जीव को समस्त भावों की उपलब्धि होती है, अर्थात् ज्ञान में उनका विवेक हो जाता है। कहते हैं कि केवलज्ञान न होने पर भी, समस्त भावों की उपलब्धि हो जाती है। समस्त भावों की साक्षात् उपलब्धि तो केवली भगवान को ही होती है, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव के केवलज्ञान प्रगट न होने पर भी उनके केवलज्ञान की प्रतीति प्रगट हो गई है। केवलज्ञान के स्वरूप की प्रतीति होने से केवली के जाने हुए समस्त भावों की प्रतीति भी आ गई। सम्यग्दृष्टि के समस्त भावों में विवेक प्रगट हो गया है, अर्थात् सम्यक्दर्शन होने पर ही कल्याण और अकल्याणरूप भावों का यथार्थ ज्ञान होता है और कल्याण की प्राप्ति होती है।

[१६७] सम्यग्दृष्टि जीव को कैसी प्रतीति होती है ? किसमें अपार अकल्याण है ?

सत् देव-गुरु-धर्म के समागम से रुचि और महिमापूर्वक अभ्यास करते-करते अपूर्व पुरुषार्थ के द्वारा जीव को सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन होने पर यथार्थ ज्ञान होता है और वह ज्ञान समस्त पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानता है। समस्त पदार्थों के स्वरूप को जानने पर

उसे कल्याण और अकल्याण की ऐसी प्रतीति होती है कि जो यह शुद्धस्वभाव है, उसका आश्रय करना ही कल्याण का कारण है। मेरे स्वभाव में रागादि भाव नहीं हैं तथा वे रागादि भाव कल्याण का कारण नहीं है। स्वभाव को विपरीतरूप मानने का मिथ्यात्वभाव ही अकल्याण का कारण है।

इस जीव के लिये कोई भी परवस्तुएँ अथवा देव-गुरु-शास्त्र, कल्याण-अकल्याण का कारण नहीं हैं। मात्र अपनी पर्याय की यथार्थ प्रतीति और स्थिरता ही कल्याण का, तथा विपरीत मान्यता एवं रागादि ही अकल्याण का कारण हैं। किन्तु जीव का रागभाव से जितना अकल्याण होता है, उससे अनन्तगुना ''राग से आत्मा को लाभ होता है''—ऐसी विपरीत मान्यता से होता है। ''राग में धर्म है''—ऐसी मान्यता ही अकल्याण का मूल है। जो आचार्य, साधु अथवा पण्डित नाम के धारी भी रागादि के द्वारा आत्मा का कल्याण होने की तीव्र प्रवृत्ति करते हैं, उनकी त्रस स्थिति पूर्ण होने वाली है और उनको वन्दनादि करनेवाले जीव भी संसार में परिभ्रमण करते हैं—ऐसा आचार्य भगवान कहते हैं।

[१६८] जीव कल्याण के मार्ग में कब प्रवृत्त हो सकता है ?

जीव किसे कहा जाये, यह सम्यक्ज्ञान के बिना नहीं जाना जाता। जो शरीर है, सो जीव नहीं; चलता-फिरता है, वह जीव नहीं है; तथा जो राग करता है, वह भी जीव नहीं है; जीव तो मात्र ज्ञाता-दृष्टास्वभावरूप है। जो राग में धर्म मानता है, उसने जीव के ज्ञातारूप को नहीं जाना अर्थात् जीव को ही नहीं जाना है। जीव की पहिचान किये बिना कहाँ से धर्म हो सकता है ? जिसने जीवादि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप नहीं जाना है, वह मिथ्यादृष्टि है-उसे कल्याणमार्ग की खबर नहीं है।

सम्यक्दर्शन के बिना जीव का यथार्थ स्वरूप नहीं समझा जा सकता। सम्यक्दर्शन ही कल्याण का मूल है, उसके बिना कल्याण नहीं है। जब सम्यग्दर्शनसहित सम्यग्ज्ञान से पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जान लेता है, तभी जीव को कल्याण-अकल्याण मार्ग का यथार्थ निर्णय होता है और वह निःशंकरूप से कल्याण मार्ग में प्रवृत्त हो सकता है। किन्तु जबतक उसे उसका यथार्थ निर्णय नहीं हो, तबतक वह कल्याण मार्ग में प्रवृत्त नहीं हो सकता। —१५—

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.११-१०-४८
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड